

भारत के वनों में प्रकाश की किरण A Ray of Light in the Forests of India

वरद पांडे और प्रांजुल भंडारी

Varad Pande & Pranjul Bhandari
September 12, 2011

भारत में वनों पर निर्भर 250 मिलियन लोग दमनकारी साम्राज्यवादी वन संबंधी कानूनों के जारी रहने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भारी अन्याय के शिकार होते रहे हैं और ये लोग देश में सबसे अधिक गरीब भी हैं. वन्य समुदायों के सशक्तीकरण के लिए पिछले 15 वर्षों में भारत में दो ऐतिहासिक कानून पारित किये गये हैं, लेकिन ज़मीनी सचाई तो यह है कि इनका प्रभाव भी काफ़ी निराशाजनक रहा है. हालाँकि ये सभी कानून आधे मन से ही पारित किये थे,लेकिन हाल ही में कुछ ऐसे “परिवर्तन” हुए हैं, जिनका उपयोग यदि उचित रूप में किया जाए तो इन समुदायों के जीवन-स्तर को काफ़ी बेहतर बनाया जा सकता है.

पृष्ठभूमि

जब गडचिरौली के आदिवासी ज़िले में मेंधा लेखा गाँव के सामुदायिक नेता देवाजी तोफ़ा को 2011 में अपनी ग्राम सभा से ट्रांज़िट पास मिला तो उनके समुदाय को खेती करने और अपने बाँस बेचने की अनुमति मिल गयी. यह सुविधा केवल प्रतीकात्मक ही नहीं थी,बल्कि उससे कहीं अधिक थी. इससे वन पर निर्भर लोगों के बेहतर भविष्य की संभावनाएँ बढ़ी हैं. जहाँ एक ओर अधिकांश लोगों को भारत के जंगलों में शेरों और वनस्पतियों के चित्र ही दिखाई पड़ते हैं, वहीं एक और दुनिया है, जहाँ मेहनतकश लोग गरीबी रेखा के अंतिम छोर पर रहते हैं,लेकिन किसी का ध्यान उन पर नहीं जाता. एक अनुमान के अनुसार वनजीवी के रूप में पहचाने जाने वाले पचास मिलियन से अधिक लोग भारत के वन-प्रांतरों में रहते हैं और वनों पर निर्भर रहने वाले 275 मिलियन लोग अपनी आजीविका के कम से कम एक भाग के लिए तो वनों पर ही निर्भर करते हैं. दोनों प्रकार के लोग, वनों पर निर्भर रहने वाले लोग और विशेषकर वनजीवी लोग आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े और सामाजिक दृष्टि से कमज़ोर हैं. ये लोग साम्राज्यवादी वन संबंधी कानूनों के जारी रहने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भारी अन्याय के शिकार होते रहे हैं. इन कानूनों के कारण न तो इन्हें ज़मीन और संसाधनों के अधिकार मिले और न ही वन संरक्षण में भागीदारी मिली. शताब्दियों से वहाँ रहने पर भी सन् 2006 तक न तो उन्हें मिल्कियत की सुरक्षा मिली और न ही संपत्ति के अधिकार मिले.

परिवर्तन की पहली लहर

पंद्रह वर्ष पूर्व भारत ने यथास्थिति को बदलने के लिए पहला कदम उठाया था. अनुसूचित क्षेत्र के 1996 के पंचायत विस्तार अधिनियम ने ग्राम सभा को संसाधन प्रबंधन के केंद्र में लाकर और भूमि,जल और वन जैसे सामुदायिक संसाधनों पर आदिवासियों के अधिकारों को मान्यता देते हुए अनुसूचित जनजाति बहुल क्षेत्रों के शासन को विकेंद्रित कर दिया. दस साल

के बाद सन् 2006 में वन अधिकार अधिनियम (एफ़आरए) ने एक कदम और आगे बढ़कर वनजीवी समुदायों के सशक्तीकरण का काम शुरू किया और वनजीवियों को उस ज़मीन की मिल्कियत दे दी, जिस पर वे रहते थे और वन्य उत्पादों (एमएफ़पी) के लिए उसका थोड़ा-बहुत उपयोग भी करते थे.

यद्यपि ये दोनों ही कानून ऐतिहासिक महत्व के थे, लेकिन ज़मीनी सचाई तो यही थी कि उनका कार्यान्वयन संतोषजनक नहीं रहा. राज्य के कानून भी इस अधिनियम की भावना के अनुरूप नहीं थे और कई मामलों में तो सबसे अधिक मूल्यवान् वनोत्पादों के सामुदायिक मिल्कियत से भी उन्हें वंचित कर दिया गया. परंतु सामुदायिक वन अधिकार देने की प्रगति बहुत धीमी रही. आरोपित शासन प्रणाली,स्थानीय नौकरशाहों के विरोध और वनोत्पादों से राजस्व जुटाने के लिए वन विभाग की निर्भरता के कारण वन्य समुदायों के वास्तविक सशक्तीकरण पर रोक लग गयी.

वन्य समुदायों के जीवन में चार परिवर्तन

यद्यपि ये बातें भारत के वनों पर निर्भर रहने वाले समुदायों के हालात तो बयान करती हैं, लेकिन हाल ही की कम से कम चार प्रवृत्तियों के कारण लगता है कि सशक्त नागरिक समुदायों और हाल ही की सरकारी कार्रवाई के कारण अंततः उनके जीवन में प्रकाश की किरणें फूटने लगी हैं. पहला प्रमुख परिवर्तन सन् 2006 में कानूनी हकों के कार्यान्वयन के कारण हुआ था. सन् 2006 में इसके कार्यान्वयन के बाद से लेकर अब तक पहली बार एफ़आरए के कार्यान्वयन को गंभीरता से लिया जा रहा है. पर्यावरण व वन मंत्रालय ने यह शर्त लगा दी कि जब तक एफ़आरए का कार्यान्वयन नहीं हो जाता,तब तक अगस्त 2009 तक की नयी परियोजनाओं को वानिकी के संबंध में स्वीकृति नहीं दी जाएगी. उच्च प्रोफ़ाइल की परियोजनाओं के मामले में भी सरकार इस कार्रवाई को लेकर काफ़ी गंभीर लगती है. उदाहरण के लिए, उड़ीसा में वेदांत ग्रुप की बॉक्साइट खनन परियोजना को रोककर सरकार ने स्पष्ट शब्दों में यह संदेश दे दिया है कि वनजीवियों को दिये गये कानूनी अधिकार अपरिवर्तनीय हैं और उन्हें किसी भी कीमत पर कार्यान्वित किया जाएगा.

इसके अलावा, ऐतिहासिक पूर्वाग्रहों को खत्म करने के लिए और कानूनी उपाय भी किये जा रहे हैं. भारतीय वन अधिनियम में प्रस्तावित संशोधन लाने के लिए केंद्रीय मंत्रिमंडल ने यह भी अनुमोदित कर दिया है कि स्थानीय लोगों पर छोटे-मोटे अपराधों के लिए समझौता जुर्माना लगाने के लिए वन अधिकारियों को संबंधित ग्राम सभा से सलाह करनी होगी. वनजीवी समुदायों को वन अधिकारियों के उत्पीड़न से बचाने के लिए यह एक बड़ा कदम माना जा रहा है.

दूसरा बड़ा परिवर्तन यह है कि स्थानीय समुदायों को वन प्रबंधन और संरक्षण में भागीदार बनाना. परंपरागत रूप में स्थानीय समुदायों को मोटे तौर पर वन संरक्षण और प्रबंधन से दूर रखा जाता रहा है और लंबे समय से यह क्षेत्र वन विभाग का ही माना जाता रहा है. वनजीवियों को सामुदायिक वन रक्षकों के रूप में रखने से दोनों ही लाभ में रहेंगे. अंततः अब इस बात को स्वीकार भी किया जाने लगा है और इसके प्रयोग देश-भर में किये जा रहे हैं.

स्थानीय आदिवासी युवाओं को वन प्रबंधन में प्रशिक्षित और नियोजित किया जा रहा है। पिछले दो वर्षों में इस दिशा में किये गये नये और महत्वपूर्ण प्रयासों के कारण ही प्रति वर्ष लगभग 2.5 मिलियन मानवदिवस इन स्थानीय समुदायों के लिए नियोजित किये गये। उदाहरण के लिए कॉर्बेट में वन गुर्जर, वन्य पशुओं के अवैध शिकार को रोकने के लिए आगे रहने वाले पैदल सिपाही के रूप में काफ़ी प्रभावी सिद्ध हो रहे हैं।

स्थानीय समुदायों के उपयोग के इसी प्रयोग के आधार पर सरकार ने हरित भारत के लिए राष्ट्रीय मिशन नाम से एक महत्वपूर्ण दस-वर्षीय, दस बिलियन डॉलर की एक परियोजना अभी हाल ही में शुरू की है, जिसके मूल में लोक-केंद्रिक वन संरक्षण की भावना ही है। ज़मीनी स्तर पर मिशन के कार्यान्वयन के साथ पुनर्गठित संयुक्त वन प्रबंधन समितियों (जेएफ़एमसी) का गठन ग्राम सभाओं द्वारा ही किया जाएगा और वे ही इसके लिए ज़िम्मेदार भी होंगी। इससे रूपावली में एक नया परिवर्तन सामने आएगा, जिसमें निवेश और प्रबंधन के संदर्भ में लोक-केंद्रिक निर्णयों की प्रमुख भूमिका होगी।

तीसरा परिवर्तन शायद जीविका की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और वह बाँसों से संबंधित है। कई लोगों का मानना है कि आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक मूल्यवान् फसल बाँसों तक पहुँच होने के कारण वन पर निर्भर समुदायों की जीविका के अवसरों में बेशुमार वृद्धि होगी। मोटे अनुमानों से पता चलता है कि यदि इन समुदायों को बाँसों की फसल उगाने की अनुमति मिल जाती है तो इससे उनकी आमदनी में प्रतिवर्ष 20,000 - 40,000 करोड़ रुपये का इजाफ़ा हो सकता है और पंद्रह मिलियन से अधिक लोगों को इसका लाभ मिल सकता है। बहस इस बात पर है कि बाँस घास है या लकड़ी। यदि यह घास है तो एमएफ़पी (वे वन समुदाय, जिनकी वह मिल्कियत है) मूल्य-संवर्धन और बिक्री के लिए उसकी फसल उगा सकेंगे और उसका उपयोग भी कर सकेंगे और अगर यह लकड़ी है तो इसे वन विभाग ही उगा सकेगा और इसकी बिक्री कर सकेगा। यह बहस उस समय तक चलती रही जब तक कि पर्यावरण मंत्रालय ने हाल ही में मार्च, 2011 में यह स्पष्ट नहीं कर दिया कि बाँस वास्तव में एमएफ़पी है। इसका अर्थ यह होगा कि ये समुदाय अब ग्राम सभा की अनुमति से बाँसों की खेती कर सकेंगे। ग्राम सभाओं को इसके परिवहन और बिक्री के लिए अनुमति देने के लिए ट्रांज़िट पास जारी करने का अधिकार होगा। इससे वनजीवी समुदायों को अपनी आजीविका कमाने का अवसर मिलने से काफ़ी लाभ होगा, क्योंकि बाज़ार में बाँस की अच्छी कीमत मिल जाती है और कई देसी शिल्पों और कुटीर-उद्योगों में इसका इस्तेमाल कच्चे माल के रूप में किया जाता है। मेंधा लेखा गाँव में इसका प्रतीकात्मक अनुष्ठान इस दिशा में पहला कदम है। मेंधा लेखा से प्राप्त प्रारंभिक जानकारी से यह पता चला है कि इससे गाँवों की आमदनी में काफ़ी इजाफ़ा होने की संभावना है।

चौथे परिवर्तन के कारण वन समुदायों को यह लाभ होगा कि वे स्थानीय जैव-विविधता के अपने परंपरागत ज्ञान का लाभ भी उठा सकेंगे। भारत जैव-विविधता पर संयुक्त राष्ट्र की कन्वेंशन, जिस पर अक्टूबर, 2010 में हस्ताक्षर किये गये थे, के अंतर्गत एक्सेस और बनेफ़िट शेयरिंग प्रोटोकॉल (एबीएस) का प्रमुख प्रस्तावक रहा है। यह प्रोटोकॉल, देशों को यह

सुनिश्चित करने के लिए बाध्य करता है कि आनुवंशिक संसाधनों से संपन्न स्थानीय समुदायों के ऐसे “परंपरागत ज्ञान” के उपयोग से होने वाले लाभ का उचित और समान वितरण किया जाए. घरेलू कानून (एफ़आरए और जैव विविधता अधिनियम) के साथ समर्थित एबीएस प्रोटोकॉल यह सुनिश्चित करने की दिशा में पहला कदम है कि वन्य समुदायों को उचित रूप में क्षतिपूर्ति का लाभ मिल सके.

इसी प्रकार भारत निर्वनीकरण व वन क्षरण (आरईडीडी+) पहल के माध्यम से उत्सर्जन करने के लिए उन तमाम अंतर्राष्ट्रीय वार्ताओं की वकालत करने में सक्रिय रहा है, जिनमें वनों के धारणीय प्रबंधन के लिए उत्सर्जन कम करने वाले देश प्रोत्साहन के रूप में संसाधन प्राप्त करने का हक हासिल कर सकेंगे. यद्यपि यह अभी आरंभिक अवस्था में ही है, कुछ अध्ययनों में यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में आरईडीडी+पहल होने से कार्बन सेवा प्रोत्साहन के रूप में इसे तीन बिलियन डॉलर से अधिक राशि प्रदान की जा सकती है. सरकार ने यह प्रतिबद्धता जतायी है कि आरईडीडी+पहल से मिलने वाले मौद्रिक लाभ को स्थानीय, वनजीवी और आदिवासी समुदायों में वितरित कर दिया जाएगा. इस प्रकार चौथा परिवर्तन वन-आधारित संसाधनों से होने वाले लाभ को स्थानीय समुदायों में वितरित करते हुए उसे संरक्षित, मोनेटाइज़ और प्रोत्साहित करना है.

प्रकाश की किरण, लेकिन धूमिल-सी: कार्यान्वयन की चुनौतियाँ

परंतु आगे और भी चुनौतियाँ हैं. इन परिवर्तनों के लिए शासन-तंत्र प्रणाली को विकसित करना अपने-आप में एक बड़ी चुनौती है. हम सीखने के एक लंबे मोड़ पर हैं, जिसकी शुरुआत अस्सी के उत्तरार्ध में जेएफ़एमसी के वर्शन 1.0 से हुई थी और जैसे-जैसे हम आगे बढ़ रहे हैं, इसका विकास होता जा रहा है. इस अंतराल को पाटने के लिए शीर्ष स्तर के नेताओं का नेतृत्व और नागरिक समाज की निगरानी की निरंतर ही ज़रूरत पड़ेगी.

उचित प्रतिनिधित्व वाली और अच्छी तरह चलने वाली ग्राम सभा में सर्वानुमति से निर्णय लेने की बातें सैद्धांतिक रूप में तो अच्छी लगती हैं, लेकिन इन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करना बहुत कठिन ही होता है. यदि हम यह मान भी लें कि ग्राम सभाएँ आम सहमति से निर्णय ले सकती हैं, लेकिन भद्रलोक की पकड़ (या किसी हितधारक समूह द्वारा उन्हें हथिया लेने) से उन्हें बचाये रखना आसान नहीं है. सही निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने के लिए उन्हें महत्वपूर्ण क्षमता का निर्माण करना होगा.

इसके अलावा, वनजीवियों और वन पर निर्भर रहने वाले समुदायों के प्रति वन विभाग और अन्य स्थानीय सरकारी कर्मचारियों के रवैये, प्रशिक्षण और व्यवहार में अर्थात् सभी स्तरों पर भारी बदलाव की ज़रूरत है. यह इतना सीधा रास्ता नहीं होगा. वन विभाग अपनी नयी भूमिका को इतनी आसानी से स्वीकार नहीं कर पाएगा. वे लोग दानवीर के समान स्थानीय समुदायों को एमएफ़पी, खास तौर पर बाँस पर इतनी आसानी से अपनी पकड़ नहीं बनाने देंगे,

क्योंकि बाँस और अन्य एमएफपी राजस्व के मूल स्रोत रहे हैं और साथ ही उनके लिए ये शक्ति और नियंत्रण के स्रोत भी रहे हैं.

एमएफपी के लिए बढ़िया प्रतियोगी मंडियाँ भी विकसित करनी होंगी, ताकि वनजीवियों को अपने उत्पादों का उचित मूल्य मिल सके. इसके लिए नवोन्मेषकारी तंत्र की आवश्यकता होगी जो मात्र न्यूनतम समर्थन मूल्य घोषित करने से ही नहीं बन जाएगा. उदाहरण के लिए, वनजीवियों को प्रभावी पूर्तिकर्ता समूहों के रूप में संगठित करने के लिए संस्थागत सपोर्ट की आवश्यकता होगी और अतीत में सहकारी आंदोलनों के हमारे अनुभवों को देखते हुए यह कोई छोटी चुनौती नहीं होगी.

निष्कर्ष

वन पर निर्भर समुदायों के सशक्तीकरण के कारण न केवल ऐतिहासिक अन्याय को खत्म किया जा सकेगा और उनकी आजीविका में वृद्धि होगी, बल्कि हमारी प्राकृतिक वन संपदा और धरोहर का संरक्षण भी हो सकेगा. इसका अतिरिक्त सह-लाभ यह होगा कि इन समुदायों के आर्थिक सशक्तीकरण के कारण नक्सलवाद (जिसे स्थानीय वनगाँवों से ही शक्ति मिलती है और जिनको धन भी वनज उत्पादों से ही मिलता है) से लड़ने में यह एक प्रभावी उपाय सिद्ध होगा.

हमें आशा है कि इन परिवर्तनों और अधिकारों के कारण जो गति आयी है, उसकी मेंधा गाँव से निकली मौन यात्रा हमारे वन्य समुदायों के जीवन को आलोकित करती रहेगी.

वरद पांडे भारत के ग्रामीण विकास मंत्रालय में विशेष कार्य अधिकारी के रूप में कार्यरत हैं.

प्रांजुल भंडारी भारत के योजना आयोग के उपाध्यक्ष कार्यालय में अर्थशास्त्री के रूप में कार्यरत हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>